

आलोचना और समाज



प्रफुल्ल कोलख्यान

‘आज का अधिकांश लेखन सामाजिक यथार्थ से सीधे जुड़ा हुआ है और प्रायः इसका रचनात्मक अन्वेषण करता और उस पर निर्णय देता है। आलोचना भी अंततः, आज भी आदमी की हालत की पड़ताल है, भले ही ऐसा करने में वह साहित्य और कलाओं का सहारा लेती है। उसके पास भी सामाजिक यथार्थ के सीधे अनुभव और वस्तु-स्थिति की अपनी समझ है। जाहिर है इस समझ का वह समकालीन लेखन को जाँचते परखते वक्त इस्तेमाल करेगी।’

- अशोक वाजपेयी

सामान्यतः आलोचना को लोग अच्छी नजर से नहीं देखते। विवेक संपन्न गुण-दोष विवेचन के नीर-क्षीरवाले विवेक से जोड़कर इसे कम ही लोग देख पाते हैं। आलोचना को छिद्रान्वेषी माना जाता है। इसका प्रयोग निंदा के अर्थ में भी किया जाता है। कम-से-कम अपने हिंदी समाज में तो यही स्थिति है। यह सही और अच्छी स्थिति नहीं है। बिना आलोचनात्मक विवेक के मनुष्य का जीवन एक भी कदम आगे नहीं बढ़ सकता है। इसलिए निंदा, जो कि इसका निकृष्टतम अभिप्रेत होता है, के अर्थ में भी समझदार लोग इसके महत्त्व को जानते रहे हैं। तभी तो सलाह दी थी कि निंदक को नजदीक रखिये, आँगन में कुटी बनाकर। क्योंकि यह निंदक बिना साबुन-पानी के ही स्वभाव को निर्मल करता है। साबुन-पानी न लगे, लेकिन जिसका ‘मल’ निकाला जाता है उसे कुछ-न-कुछ ‘रगड़’ भी तो झेलनी ही पड़ती है। अब जिसे रगड़ झेलनी पड़े वह क्या बताये कि आलोचना अच्छी चीज है! हाँ, आलोचना के अच्छी चीज

होने का एहसास तब अवश्य होता है जब अपना 'निर्मल' चेहरा कोई देखे। असल बात यह है कि आलोचना की ऐसी अर्थ-छवि क्यों है? और इस अर्थ-छवि को बनाने में किन-किन कारणों से किन लोगों की रुचि हो सकती है? आलोचना की ऐसी सामाजिक छवि को समझने की कोशिश में ही आलोचना की सामाजिकता भी साफ हो सकेगी और उसकी जरूरत भी नये सिरे समझ में आ सकती है। जरूरत के नये सिरे को समझना इसलिए जरूरी है कि आज के परिप्रेक्ष्य में आलोचना को जीवन से खदेड़ने की कोशिश नये सिरे से की जा रही है।

आज जीवन में अनालोचन के महत्त्व को बढ़ाया जा रहा है। हर किसी को अपने-अपने 'सद्गुण' के बखान और विज्ञापन की छूट है। अपने और दूसरे के 'दुर्गुण' के बारे में समझदारी भरी चुप्पी के मर्म के प्रति आदर के महत्त्व को समझा और समझाया जा रहा है। कह सकते हैं आज के इस अनालोचन में 'गुणग्राहकता' बढ़ी है। 'गुन न हिरानो हैं, गुन ग्राहक हिरानो हैं' के समय से हम बाहर निकल आये हैं। आज न तो 'गुन' की कोई कमी है और न 'गुनग्राहकों' की कोई कमी है। कमी है तो कंचन की, हिरण्य की। उस 'कंचन' की जिसके आश्रय में ही सारे 'गुण' रहते हैं। उस 'हिरण्य' की जिसके गर्भ में सत्य सदावास करता है। इसलिए अनालोचन के महत्त्व को बढ़ाये जाने के मनोविज्ञान को समझने के लिए असमान अर्थ-विश्व के समर्थ अर्थ-प्रभुओं की विश्वाकांक्षा के आर्थिक परिप्रेक्ष्य को समझना होगा। इसके आर्थिक प्रयोजनों से राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक यथा-स्थितिवाद के संपोषण के लिए एक मुहावरा ही बनाने की कोशिश हो रही है कि जो जैसा है वह वैसा और वैसा ही हो सकता है। इसे स्वीकार किया जाये या फिर अस्वीकार किया जाये। इसमें किसी प्रकार के परिवर्तन या मीन-मेघ अन्वेषण का अधिकार 'बाहरी' तत्त्व को नहीं है। स्वीकार ही सार्थकता की गारंटी है। कुल मिलाकर यह कि आज नये सिरे से न सिर्फ आलोचनात्मक विवेक को समाप्त करने की कोशिश जारी है बल्कि आलोचनात्मक सोच को अशालीन घोषित कर दुष्टता की परिधि में धकेलने की प्रचेष्टा भी नये सिरे से की जा रही है।

समुष्य की सामाजिकता के परिगठन के काल से ही आलोचन और अनालोचन का द्वंद्व चलता रहा है। धर्म और विज्ञान के विकास के क्रम में इनके बीच होनेवाले टकरावों के विभिन्न संदर्भों को देखने से आलोचन और अनालोचन का यह द्वंद्व साफ-साफ समझ में आ सकता है। इस द्वंद्व में धर्म, जो अधिक-से-अधिक उपदेश के क्रम को आगे बढ़ाने के लिए उपयोगी जिज्ञासाओं को तो कुछ हद तक स्वीकार करता है लेकिन किसी भी स्तर पर अपनी वास्तविक आलोचना को बर्दाश्त नहीं कर सकता, के साथ सत्ता के हमेशा ही होने के कारणों को भी आसानी से पहचाना जा सकता है। आलोचना के प्रति इस रवैया के पुराने सिरे और नये सिरे में लक्ष्य की समानता निश्चित

रूप से है। यह समानता है मनुष्य की बड़ी आबादी को शोषण की जकड़न में डाले रखना। इस लक्ष्य की समानता को पहचानना और उनके संबंध को उद्घाटित करना आलोचना की सामाजिकता पर बात करने के लिए बहुत जरूरी है।

ज्ञान हमेशा ही अज्ञान के पटल पर तैयार की गई शोषण की जकड़न को काटने का आधार और मनोभाव बनाता रहा है। इस काम में ज्ञान को विज्ञान का साथ स्वाभाविक रूप से मिलता रहा है। विज्ञान का मुख्य आधार तर्क रचता है। तकनीक की प्रवृत्ति तर्क का काम ट्रिक से लेने की होती है। आज जब ज्ञान को सूचना से विस्थापित किया जा रहा है तब स्वाभाविक ही है कि विज्ञान तकनीक से विस्थापित हो जाये। आज विज्ञान की कोख से जनमे तकनीक का प्रयोग अंधविश्वासों को काटने के बदले अंधविश्वासों को बढ़ाने के लिए बड़ी तेजी से करने का प्रचलन किया जा रहा है। इतिहास गवाह है, विज्ञान का विकास सत्ता के सहारे नहीं हुआ है। अधिक सच्ची बात तो यह है कि विज्ञान का विकास सत्ता के स्वार्थों के विरोध से ही हुआ है। सत्ताधीशों ने तो अपने-अपने समय के वैज्ञानिकों को न सिर्फ प्रताड़ित किया बल्कि कई बार तो उनकी जान तक ले ली। अब विज्ञान के विकास और उसके लाभ पर हम सत्ता के शिकंजों का कसाव देख सकते हैं। मनुष्य की आधारभूत एकता को साबित करने के लिए एकता के तत्त्वों को खोजने के उपक्रम में विज्ञान का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। लेकिन तब विज्ञान सत्तापेक्षी नहीं था। तब ज्ञान सूचना में और विज्ञान तकनीक में लघुमित (रिड्यूस्ड) नहीं हुआ था और न ज्ञान-विज्ञान की जगह सूचना-तकनीक ने ले ली थी। लेकिन आज सत्तापेक्षी बनकर विज्ञान मनुष्य की आधारभूत एकता को खारिज करने के लिए एकता के तत्त्वों का अमानकीकरण कर रहा है। सत्ता के सूत्रों से बँधा विज्ञान मनुष्य और उसकी सामाजिकता के विरोध में खड़ा होता हुआ प्रतीत हो रहा है।

अपने रचाव में जीवन का विन्यास अद्भुत है। जीवन के इस रचाव को देखने से विज्ञान का कला पक्ष भी साफ-साफ नजर आता है और कला का विज्ञान-पक्ष भी साफ-साफ नजर आता है। साहित्य और आलोचना दोनों का संबंध जीवन से है। साहित्य जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति है। आलोचना जीवन की इस कलात्मक अभिव्यक्ति के वैज्ञानिक आधार का रचाव है। जीवन में आलोचना के लिए सम्मान न बचे तो साहित्य में कहाँ से बचेगा! आलोचना की सामाजिकता की किसी भी तलाश में हमें बार-बार जीवन के खुले आँगन में जाना ही होगा। नारे की तरह हो या मंत्र की तरह अने-आप से और अपने समाज से केदारनाथ सिंह के कंठ में कंठ मिलाकर बार-बार ‘एक पारिवारिक प्रश्न’ पूछना ही होगा कि “मैं अपना नन्हा गुलाब कहाँ रोपूँ?” आज जब सुखी और संपन्न लोग जोर-जोर से बीस का पहाड़ा रट रहे हैं हमें ‘सन् 47 को याद करते हुए’ एक दूसरे पूछना ही होगा कि “तुम्हें याद है मदरसा/ इमली का पेड़/ इमामबाड़ा/ तुम्हें याद है

उन्नीस का पहाड़ा/ क्या तुम अपनी भूली हुई स्लेट पर/ जोड़-घटा कर यह निकाल सकते हो/ कि एक दिन अचानक तुम्हारी बस्ती छोड़कर/ क्यों चले गये थे नूर मियाँ?’’ पूछना ही होगा राजेश जोशी की काव्य-संवेदना के साथ तदाकार होते हुए कि यह कैसी और किसकी आजादी है कि सारी चीजें हैं हस्बे मामूल फिर भी बच्चे सुबह-सुबह किसके लिए काम पर जा रहे हैं और वे सारे के सारे लोग जो निहत्थे और निरपराध हैं क्यों और किनके हाथों मार दिये जा रहे हैं? और हत्यारा? ‘बुद्ध की मुस्कान’ पर परमाणु विस्फोट करता हुआ अपने चेहरे पर बुद्ध की मुस्कान चिपकाये, मंगलेश डबराल के शब्दों में बुद्ध के शरण में जाने का स्वाँग रचाता है, खुले आम! पूछना ही होगा कि आज जीवन को जारी रखने के लिए आवश्यक फसल उगानेवाले दुखसह होरी के वंशधर फसलों के दुश्मनों के नाश के लिए इजाद किये गये रसायन से अपना प्राण नाश करने पर क्यों विवश हो रहे हैं, क्यों भून दिया जा रहा है उन्हें गोलियों से? क्यों धनिया का आँचर आज पहले से अधिक तार-तार है?

आकस्मिक नहीं है कि पूरी दुनिया में आलोचना और जनतंत्र की चेतना का विकास साथ-साथ हुआ है। जहाँ आलोचना पहले विकसित हुई जनतंत्र की चेतना भी पहले वहीं विकसित हुई। अगर भारतीय परिप्रेक्ष्य को देखा जाये तो बाहरी उपनिवेश और आंतरिक उपनिवेश दोनों से मुक्ति की चाह में ही संप्रभुत्व संपन्न राष्ट्र-राज्य और राष्ट्रीय-जनतंत्र की अकांक्षा का विकास हुआ। आज अगर एक साथ राष्ट्र-राज्य की संप्रभुता और राष्ट्रीय-जनतंत्र के चरित्र को बाहरी और भीतरी दोनों ही ताकतों से खतरा है तो इसलिए कि ये दोनों ताकतें मिलकर यहाँ की विभिन्न सामाजिकताओं के बीच की दरार को फैलाकर और नये आभासी दरारों को प्रभावी बनाकर राष्ट्रीय-जनतंत्र की विभिन्न सामाजिकताओं को नई गुलामी में जकड़ना चाहते हैं। इस काम में उनका सब से बड़ा हथियार होता है व्यापक पैमाने पर लोगों के बीच अंधविश्वास का प्रसार। इसके लिए आलोचनात्मक-बुद्धि का अनादर और अनालोचनात्मक मनोवृत्ति का समादर सत्ता के लिए आवश्यक होता है। यहीं हम आलोचना की सामाजिक स्थिति और बनाई गई छवि के कारणों को भी पकड़ सकते हैं। क्योंकि आलोचना ‘जो है, उस से बेहतर’ को हासिल करने के सामाजिक उद्यम के लिए हमेशा एक इतर-विचार के विकल्प के सामाजिक प्रस्ताव का आधार तैयार करने का प्रयास करती है। इस इतर-विचार के विकल्प की सामाजिक मान्यता से ही समाज का बहुलतावादी स्वरूप उभरता है। सत्ता को अपने विचार के अलावे कोई और विचार कभी रास नहीं आता है, बहुलतावाद कैसे रास आ सकता है! सत्ता को और उसके यथास्थितिवाद को किसी भी प्रकार का विकल्प कभी पसंद नहीं आता। आज के संदर्भ में ‘टिना’ (TINA = THERE IS NO ALTERNATIVE), अर्थात् विकल्पहीनता तो

उनका प्रिय दर्शन ही बन गया है। स्वाभाविक ही है कि इस 'टिनावाद' में आलोचना के लिए कोई जगह नहीं है।

राजतंत्र हो या जनतंत्र दोनों में राजसत्ता के प्रति जनता के विश्वास एवं आस्था की जरूरत होती है। यह विश्वास दो प्रकार का होता है। एक ज्ञान पर आधारित और दूसरा अज्ञान पर आधारित। ज्ञान में प्रश्न की प्रवृत्ति होती है। ज्ञान असहमति का हक माँगता है। अज्ञान सहमति का सबसे टिकाऊ आधार बनाता है। राजसत्ता को प्रश्न से स्वभावतः परहेज होता है। उसे प्रश्न पसंद नहीं आते। राजसत्ता हर किसी को अपने सामने देवनागरी के पूर्ण विराम चिह्न की तरह सीधा और रुका हुआ देखना चाहता है, प्रश्नवाचक चिह्न की तरह का टेढ़ापन उसे पसंद नहीं आता। राजसत्ता को अज्ञान पर आधारित प्रश्नातीत विश्वास, अर्थात् अंधविश्वास, अधिक स्वीकार्य होता है। अज्ञान पर आधारित प्रश्नातीत विश्वास की स्थिति के टूटने से ही राजसत्ता के अंदर ज्ञान पर आधारित प्रश्नाकुल विश्वास जनसत्ता, यानी जनतंत्र का आधार बनाता है। दूसरी ओर ज्ञान पर आधारित प्रश्नाकुल विश्वास की प्रवृत्ति पर नाना प्रकार के अवरोध खड़े कर और अज्ञान पर आधारित प्रश्नातीत विश्वास को बढ़ावा देकर राजसत्ता जनतंत्र के चरित में राजतंत्र के 'गुण' भरने की निरंतर कोशिश करती है। राजा होना किसे अच्छा नहीं लगता है! यह समझने की बात है कि दुनिया के अधिकतर देशों में राजतंत्र को तो जनतंत्र ने विस्थापित कर दिया लेकिन उसी जनतंत्र ने 'राजनीति' को विस्थापित कर उसकी जगह 'जननीति' को क्यों नहीं स्थापित किया? राजतंत्र और जनतंत्र की राजनीति के चरित और स्वरूप में अंतर होना चाहिए। जनतंत्र तो आ गया राजनीति के चरित और स्वरूप में बदलाव आया क्या? आधुनिक मनुष्य की उपलब्धि के अधिकार और आकांक्षा का आधार जनतंत्र रचता है। जनतंत्र को राजनीति सुनिश्चित करती है। इसलिए अंधविश्वास और राजनीति के अंतस्संबंध पर विचार आवश्यक है।

अंधविश्वास और राजनीति के संबंध या यों कहें कि धर्म एवं उससे जुड़ी विभिन्न मान्यताओं और राजनीतिक हित-पोषण अर्थात् सत्ता में बने रहने के लिए राजा अर्थात् सत्ताधारी शक्ति के संबंधों पर विचार करते हुए रामशरण शर्मा ने 'प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ' (प्र.सं.1992) के पंद्रहवें अध्याय "कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' में धर्म और राजनीति" में गंभीरता से विचार किया है। कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष इस प्रकार हैं:

1. 'कौटिल्य ने लोगों को राजा के देवत्व की प्रतीति कराने के लिए अनेक प्रकार के प्रचार अधिकारियों की व्यवस्था की है। इस कार्य के लिए सात प्रकार के अधिकारियों को राज्य की सेवा में प्रवृत्त करना है। वे हैं - ज्योतिषी (दैवज्ञ), भविष्यवक्ता, मौहूर्तिक, पौराणिक

(कथावाचक), ईक्षणिक (संभवतः एक प्रकार के दैवज्ञ, जो प्रश्नोत्तर के क्रम में भविष्य का शुभाशुभ बताते थे), गुप्तचर और साचिव्यकर (राजा के सहचर)। ‘अर्थशास्त्र’ में अन्यत्र प्रथम चार का उल्लेख पुरोहित वर्ग के सदस्य के रूप में हुआ है। यह लोकमत तैयार करने में पुरोहितों की महत्वपूर्ण भूमिका का प्रभाव है।” विश्व विद्यालय में ज्योतिष पढ़ाने के आग्रह और महत्व को हम आसानी से समझ सकते हैं!

2. “कौटिल्य ने एक युक्ति यह भी सुझाई है कि कुछ देव प्रतिमाएँ नष्ट करके उन से लगातार खून की धारा बहती दिखाई जाये और तब गुप्तचर ऐसा प्रचार करें कि यह शत्रु की हार का लक्षण है।” देश भर में गणेश प्रतिमाओं के दुग्धपान के प्रचार का रहस्य समझ में आना चाहिए।

3. “एक विद्वान की राय है कि ‘अर्थशास्त्र’ में कुछ स्थलों पर इस तरह के चमत्कारों पर आधारित जिन कटु-युक्तियों की हिमायत की गई है, वे इस ग्रंथ के मौलिक अंश नहीं हैं। उनका यह कहना है कि ‘अर्थशास्त्र’ के शेष अंशों में तथा “मुद्राराक्षस” नामक नाटक में विष्णुगुप्त का जो सच्चा चरित्र प्रतिबिंबित होता है, ये युक्तियाँ उससे संगत नहीं प्रतीत होतीं। (एच.सी. सेठ, “दि स्पूरियस इन कौटिल्याज अर्थशास्त्र” ए वाल्यूम ऑफ इस्टर्न एंड इंडियन स्टडीज प्रेजेंटेटेड टू प्रोफेसर एफ.डब्लू टामस, पृ.25)। ऐसा जान पड़ता है कि ये अंश परवर्त्तिकाल में, भारत में तंत्रवाद का बोलबाला होने पर, इस ग्रंथ में प्रक्षिप्त कर दिये गये। जब तक इस समस्या का समाधान नहीं हो जाता कि कितना अंश असली और कितना अंश नकली है, कौटिल्य के ग्रंथ के इस अंतर्विरोध का कारण यह मान सकते हैं कि जहाँ राज्यहित का प्रश्न हो, वहाँ वह किसी प्रकार के धर्मसंकोच में नहीं पड़ते।”

4. “ऐसी बात नहीं कि प्राचीन राजनीति में अंधविश्वासों का लाभ उठाने के सिद्धांतों का प्रतिपादन अकेले कौटिल्य ने किया हो। बिल्कुल यही दृष्टिकोण प्लेटो के “रिपब्लिक” में भी देखा जा सकता है। उसमें झूठा और मनगढ़ंत प्रचार किया गया है कि ईश्वर ने दार्शनिकों में सोना, योद्धाओं में चाँदी, तथा किसानों और कारीगरों में पीतल और लोहा रखा। प्लेटो ने महसूस किया कि इस कल्पित कथा को एक ही पीढ़ी में जनमानस में स्तय के रूप में प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता लेकिन, दूसरी, तीसरी और उसके बाद की पीढ़ियों

में लोगों का विश्वास इस पर जमाया जा सकता है। काल की दृष्टि से तो नहीं, लेकिन स्थान की दृष्टि से एक-दूसरे से बहुत दूर होते हुए भी प्लेटो और कौटिल्य दोनों के विचार में अपनी सत्ता की रक्षा और विस्तार के लिए शासक वर्ग को अंध विश्वास को प्रश्रय देना चाहिए। रोम के राजनीतिज्ञों की दृष्टि भी ऐसी ही थी। वहाँ के पुरोहित मंडलों ने अपना प्रभाव खूब बढ़ा लिया था, फिर भी उन्होंने और उनमें से भी खास तौर से उच्च पदों पर आसीन लोगों ने इस बात को कभी नहीं भुलाया कि उनका कर्तव्य समादेश देना नहीं, अपितु दक्षतापूर्ण परामर्श देना है। और रोमन राजनीतिज्ञ यदि इस प्रकार के स्पष्ट प्रपंचों को चुपचाप स्वीकार लेते थे वह धर्म का विचार करके नहीं बल्कि अपने राजनीतिक स्वार्थों की सिद्धि के लिए। यूनानी पालीबिअस यह कथन सर्वथा उचित था कि रोमवालों के धर्म से जो अनोखे और जटिल अनुष्ठान प्रचलित थे, उनका आविष्कार मात्र सामान्य जनों को ध्यान में रखकर किया गया था, क्योंकि उनमें बुद्धि का अभाव था और इसलिए उन पर प्रतीकों और चमत्कारों के जोर पर ही शासन किया जा सकता था। प्राचीन भारत के राजनीतिज्ञ भी ऐसे ही प्रपंचों का प्रयोग करते थे, और निर्भीक तथा सूक्ष्म चिंतक यदाकदा इन प्रपंचों का पर्दाफाश भी कर देते थे। जैसे, बाण ने राजा के देवत्व की अनर्गल परिकल्पना को अस्वीकार करते हुए कहा कि यह उन चाटुकारों की करतूत है जो कमजोर और मूढ़ राजाओं के दिमाग में इस तरह की बेतुकी बातें भर देते हैं, किंतु जो शक्तिशाली और समझदार राजाओं को मूर्ख नहीं बना सकते।”

5. “अंधविश्वास और राजनीति का आपसी संबंध कौटिल्य की कृति की ऐसी विशेषता है जिसकी ओर सामान्यतः ध्यान नहीं दिया जाता है। कुल मिलाकर देखें तो ‘अर्थशास्त्र’ धर्म और राजनीति के आपसी संबंधों के विवेचन से तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ सामने आती हैं। एक तो यह कि कौटिल्य वर्णित राज्य प्रारंभिक विधिग्रंथों में प्रतिपादित ब्राह्मण विचारधारा का रक्षक है। लेकिन भारतीय मानस की जो एक सामान्य विशेषता है, उसके विपरीत कौटिल्य का राज्य पुरोहित सत्ता का अनुयायी नहीं है। कारण, वह राज्यसत्ता की नींव को कमजोर बनानेवाले ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर धार्मिक रीतिरिवाजों की न केवल उपेक्षा करके चलता है बल्कि उसका दमन भी करता है। यह दूसरी प्रवृत्ति है। तीसरी प्रवृत्ति यह है कि कौटिल्य

राज्य के हितसाधन के निमित्त--- विशेषकर विदेशनीति के संदर्भ में--- जनसाधारण के अज्ञान और अंधविश्वास से लाभ उठाते प्रतीत होते हैं।” अंधविश्वास और राष्ट्रवाद के उन्माद के संबंध का संदर्भ स्वतः स्पष्ट है।

स्वाभाविक ही है कि आज जब पूरी दुनिया में अंतर्राष्ट्रीय आवारा वित्तीय पूँजी के भू-मंडलीकरण और मनुष्य के स्थानीयकरण की प्रक्रिया तेज की जा रही है तो इसके प्रमुख बाधक जनतंत्र को, कम-से-कम जनतंत्र की चेतना को तो निश्चि रूप से, विदा करने की तैयारी भी चल रही है। ऐसा क्यों हो रहा है? भू-मंडलीकरण और जनतंत्र में ऐसा क्या विरोध है कि दोनों एक साथ चल नहीं सकते? आज इस सवाल पर बहुत ही गहराई से सोचने की जरूरत है। इसके लिए भू-मंडलीकरण और जनतंत्र के बीज-स्वभाव का स्मरण कर लेना प्रासंगिक होगा। अंतर्राष्ट्रीय आवारा वित्तीय पूँजी सार्वभौम-शक्ति का ही दूसरा नाम है, भू-मंडलीकरण। अंतर्राष्ट्रीय आवारा वित्तीय पूँजी का स्वभाव केंद्राभिमुख है। अर्थात् एक केंद्र से पूरी दुनिया में फैलना और अधिक शक्तिशाली होकर अपने केंद्र की ओर लौट आना। इसके मूल चरित्र में मनुष्यता की समता के लिए कोई सम्मान नहीं है। यह मनुष्य की असमानता को ही स्वाभाविक और सच बताता है। इसका जोर इसीलिए असमानता को प्रमाणित करनेवाले निदर्शनों की तलाश पर होता है। जरा-सा ध्यान देने पर यह बात छिपी नहीं रह जाती है कि मनुष्य में असमानता का आधार आकारिक एवं बाहरी होता है और समानता का आधार वस्तुगत एवं भीतरी होता है। पूँजी मनुष्यता के साथ जुड़ी हुई बड़ी शक्ति तो है लेकिन यह है बाहरी और इसलिए असमानता का एक बड़ा आधार निर्मित करती है।

यह भू-मंडलीकरण सामाजिक एवं नागरिक को उपभोक्ता में और सांस्कृतिक रूप से एक दूसरे से संबद्ध सांस्कृतिक समाजों को उपभोक्ता समाज में बदलने के लिए प्रयासरत है। इस उपभोक्ता समाज में समृद्धि और स्वतंत्रता एक दूसरे की पूरक नहीं विरोधी बनकर ही उपस्थित होती है। इस उपभोक्ता समाज का चरित्र और स्वभाव कैसा होगा? यह बहुत ही गंभीर सवाल के रूप में हमारे सामने उपस्थित है। हमारे समय में बहुत तेज परिवर्तन घटित हुआ है, हो रहा है। औद्योगिक विकास की प्रक्रिया के कारण सामाजिक संक्रमण का जो क्रम आरंभ हुआ था उसने समाज की मूल्य चेतना को अपने स्तर पर बदलना प्रारंभ किया। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में प्रारंभिक तेजी बहुत नहीं थी। एक पूरी सक्रिय और नियंता पीढ़ी परिवर्तन की इस प्रक्रिया को धीरे-धीरे आकार और अयाम देती रही। मूल्य-चेतना में आने वाले परिवर्तन का भी क्रमिक विकास हुआ। वैज्ञानिकता के आलोक में नये नैतिक आग्रह के साथ उपस्थित इस परिवर्तन में एक प्रकार

की क्रमिकता थी और नये सामाजिक मूल्यों के साथ ताल-मेल बिठाने के लिए पर्याप्त अवसर की गुंजाइश थी। यह अलग बात है कि इस गुंजाइश का पूरा उपयोग नहीं किया जा सका। आज उपस्थित परिवर्तन क्रमिक नहीं है यह डिजिटल है। आज के इस डिजिटल परिवर्तन के समय में नये परिवर्तन के अनुरूप और अनुकूल ढलने का कोई प्रभावी अवसर मनःस्थिति को उपलब्ध नहीं हो पाता है। मूल्य-बोध में परिवर्तन के सामाजिक और मानसिक अवसर इतने कम होते हैं कि एक ही सक्रिय और नियंता पीढ़ी को बोध-परिवर्तन के कई-कई चरणों से एक ही साथ गुजरना पड़ जा रहा है। इस डिजिटल समय के समाज में एक ऐसे समाज-मुक्त सामाजिक वर्ग का उदय होता है, जिसे उपभोक्ता समाज के रूप में रेखांकित किया जा सकता है। इस उपभोक्ता समाज के स्वरूप और क्षण-क्षण परिवर्तनशील मानसिक गठन को समझ के दायरे में लाने के लिए परिभाषित करने की कोशिश के अपने जोखिम हैं। फिर भी यह बात स्पष्ट है कि उपभोक्ता समाज के सदस्य मूल रूप से 'खाने' के लिए जीता है जबकि उत्पादक समाज 'जीने' के लिए खाता है। उपभोक्ता समाज में किसी सदस्य का सामाजिक महत्त्व इस आधार पर तय नहीं हुआ करता है कि वह उत्पादित क्या करता है बल्कि इस आधार पर तय हुआ करता है कि वह उपभोग कितना करता है। महत्त्व निर्णय इस बात पर भी नहीं होता है कि कोई त्याग कितना और क्या करता है बल्कि इस बात पर हुआ करता है कि वह भोग कितना और कैसे तथा किस निर्ममता से करता है। निर्ममता भी इसका एक लक्षण है, जिसका विस्तार क्रूरता तक सहज ही परिलक्षित किया जा सकता है। सिर्फ भोग ही नहीं बल्कि निर्मम भोग इसका दार्शनिक मतवाद है। बाजार का दर्शन ही है 'भोगो और भूल जाओ', इसे अंग्रेजी में कहते हैं 'युज एंड थ्रो'। इस निर्मम और क्रूर भोग के स्वभाव को छिपा ले जाने की चतुराई के परिप्रेक्ष्य में ही पर्यावरण की उनकी चिंता का आधार तलाशा जाना चाहिए। कभी-कभी उत्तर-आधुनिक कहे जानेवाले दर्शन से भी इस प्रवृत्ति को वैचारिक ताकत और वैधता मिल जाया करती है।

यह, 'भोगने और भूल जाने' का उपभोक्तावादी मिजाज, मिल के सुखवाद से इस अर्थ में भिन्न है कि मिल के सुखवाद में सामाजिक प्रपत्ति के रूप में नैतिकता के लिए महत्वपूर्ण जगह बनी रहती है। सामाजिक नैतिकता से अन्यतम वियोग मिल के सुखवाद की दार्शनिकता का आधार निर्मित नहीं करता है। मिल के सुखवाद में संतुष्ट सुअर से असंतुष्ट मनुष्य के जीवन को अधिक वरेण्य माना गया है। अर्थात् मनुष्यता को अधिक महत्त्व दिया गया है और जाहिर है ऐसा होने पर मिल के सुखवाद में निर्ममता के लिए वह जगह नहीं बन सकती है जो उपभोक्ता समाज में बुनियादी रूप से बनती है। यदि चार्वाक के सुखवाद के स्वरूप को भी देखें तो यह बात बिल्कुल साफ-साफ दीखती है कि उनके मतवाद में सुखवाद की पैरवी धर्म के नाम पर जारी ढकोसलों के खिलाफ ही अधिक है बनिस्पत सुख के। वह अपने मूल रूप में भौतिकवादी अधिक है न

कि सुखवादी। तात्पर्य यह कि 'ऋण करके घी पीने' के उनके सिद्धांत का मुख्य मकसद न तो 'ऋण करने' पर जोर देना था और न ही 'घी पीने पर', बल्कि पुनर्जन्म के आधार पर खड़ी की गयी तथाकथित आध्यात्मिक नैतिकता की जगह भौतिकतावादी सामाजिक नैतिकता की विचार सरणियों को खड़ा कर पुनर्जन्म संबंधी अवधारणाओं का विरोध करना और एक अधिक नैतिक समाजिकता को हासिल करना था। पुरोहितवादी समाज व्यवस्था को इससे गहरी चोट और चुनौती मिल रही थी। इसलिए, पुरोहितवादी समाज व्यवस्था ने इसके भौतिकवादी स्वरूप की जगह सुखवादी स्वरूप को ही अधिक मान्यता प्रदान किया। क्योंकि, पुरोहितवादी समाज व्यवस्था के लिए भौतिकवाद से लड़ना कठिन था जबकि सुखवाद से लड़ना असान था। ऐसा इसलिए कि पुरोहितवाद के मुख्य आधार ईश्वर को न माननेवाले दार्शनिक मतवाद भारत में और भी थे लेकिन वे न तो भौतिकवादी थे न ही सुखवादी थे। स्वभावतः सुखवाद के विरोध के नाम पर भौतिकवादी दर्शन से लड़ना उनके लिए आसान पड़ सकता था।

आज के उपभोक्ता समाज के नैतिक संकाय की खोजबीन की जाये तो इसके अंदर सक्रिय पुरोहितवादी रूझान को बड़ी आसानी से पकड़ा जा सकता है। यह उपभोक्ता समाज भोग के स्तर पर नितांत 'भौतिकवादी' आचरण करने वाला होते हुए भी आध्यात्मिक और पुरोहितवादी नैतिक सरणियों के निर्माण में बड़ी तत्परता से संलग्न पाया जाता है। यहीं बाजार और धर्म के नव-संश्रय को बड़ी आसानी से पकड़ा जा सकता है। आज पूरी दुनिया में उभर रहे धर्माग्रह को इस संदर्भ में व्याख्यायित किया जा सकता है। ध्यान देने की बात यह है कि धर्माग्रह जितनी तेजी से बढ़ रहा है उतनी ही तेजी से धर्माचरण पर जोर भी कम होता जा रहा है। क्योंकि, पारंपरिक धर्माचरण में दया, करुणा, परदुःखकातरता, परहित जैसे भाव अंतर्निहित रहे हैं। यद्यपि, व्यवहार के स्तर पर प्रभुत्व संपन्न वर्ग के सदस्यों में इस तरह के धर्माचरण के उदाहरण कम ही मिलते हैं लेकिन सिद्धांत के स्तर पर इनकी स्वीकृति सदैव रही है। इस स्वीकृति का सकारात्मक परिणाम दया के दान तक फैलकर पुण्य लूटने और परलोक सुधारने में परिलक्षित होता रहा है। पूण्यार्थ से मुक्त उपभोक्ता समाज यह भली-भांति जानता है कि इसे सिद्धांत के स्तर पर भी स्वीकार करना एक प्रकार के झंझट को बचाये रखने जैसा ही होगा। जब कि इससे उसकी संरचना के अंतर्निहित निर्ममत्व और क्रूरता को कोई कारगर टिकाऊ आवरण भी नहीं मिल पायेगा। जाहिर है पहले के पुरोहितवादी ढाँचे में धर्माचरण का आग्रह धर्म के पाखंड को 'सर्वेभवंतु सुखिनः' की सामाजिक नैतिकता का एक टिकाऊ आवरण प्रदान करता था। आज उस प्रकार के पाखंड की जरूरत नहीं रह गयी है। आज वह बाजार की शक्ति से संपन्न है। आज वह राजनीतिक राज्य (Political State) को चुनौती देते हुए उसे नैगमिक या बाजार राज्य (Corporate State) में तब्दील करने की तैयारी में जुटा हुआ है। उपभोक्ता समाज के बल पर आज का

बाजारवाद जनतंत्र को अप्रासंगिक, अविश्वसनीय और फालतू बनाने के अपने खेल में लगा हुआ है। उसके पोषक जिस राजनीति से प्रतिष्ठित होते हैं उसी राजनीति को 'दुखती रग' बताते हैं। राजनीति को 'दुखती रग' मानना जनतंत्र के प्रति जन की आस्था को कमजोर करने का ही प्रयास तो है! यह उपभोक्ता समाज जितना स्थानिक आग्रहों पर बल देता है उतना ही ग्लोबल आग्रहों पर भी बल देता है। वह जितना राष्ट्रीय होने पर आमादा होता है उतना ही बहुराष्ट्रीय होने के लिए मरा जाता है। नैतिकता के मामले में इसके अपने आग्रह हैं। इस क्रम में नैतिकता की पुरानी प्रणाली जिसके अनुसार मन, वचन और कर्म की एकरूपता पर बल दिया जाता था, आज उसके लिए बेमानी है। आज उपभोक्ता समाज के लिए वैश्विक स्तर पर सोचने और स्थानिक स्तर पर कार्यरत होने का सिद्धांत निरूपित और आरोपित किया जा रहा है--- अर्थात्, Think Globally, Act Locally।

बाजार के हित के लिए सबसे खतरनाक होता है समाज। क्योंकि, अकेले व्यक्ति का आखेट करना बहुत आसान हुआ करता है। इसलिए वह पहला आक्रमण समाज पर करता है। और इसके लिए असली समाज को रोजगारहीन वृद्धिवाले लालची उपभोक्ता समाज से विस्थापित किये जाने की कोशिश करता है। एक नकली या डमी समाज गढ़ने की कोशिश करता है। समाज को शक्ति मिलती है नैतिकता की सामंजस्यकारी क्षमता से। और यह इसलिए भी कि नैतिकता अपने आप में एक सामाजिक प्रपत्ति है। जिसकी सर्वाधिक प्रमाणिक अभिव्यक्ति समाज के लोगों के पारस्परिक संबंधों की आम चलन में देखने को मिलती है। समाज का आधार परिवार है। परिवार का आधार यौन संबंधों की सामाजिक स्वीकृति में अंतर्भुक्त हुआ करता है। अर्थात्, सामाजिक नैतिकता की कुँजी यौन संबंधों की सामाजिक स्वीकृति के स्वरूप में सुरक्षित होती है। दूसरी ओर, भोग की भी चरम अभिव्यक्ति यौन संबंधों में ही घटित होती है। व्यक्ति और समाज का सर्वाधिक सुदीर्घ द्वंद्व यौन-संबंधों पर ही केंद्रित रहा करता है। अब अगर सामाजिक नैतिकता को दूर फटकारना लक्ष्य हो तो इसकी सहज तार्किक परिणति यौन संबंधों और संदर्भों को विकृत करने को इसका प्राथमिक पाठ बना देती है। समाज में पहले से व्याप्त यौनमूलक भेद-भाव और शोषण का सहारा लेकर विकृतिकरण का यह प्रयास अधिक समतामूलक दीखने और अपनी वैधता साबित करने में सफल हो जाता है। परिवारों के टूटने के कारणों, इलेक्ट्रॉनिक मिडिया से प्रसारित होनेवाले विभिन्न धारावाहिकों और यहाँ तक कि नारी मुक्ति आंदोलनों एवं अंग्रेजी साहित्य की समकालीन प्रवृत्तियों के साथ ही हिंदी साहित्य के भी कतिपय पक्षों को भी समझने के लिए बाजार के इस आग्रह और आंतरिक मनोभाव को पढ़ना आवश्यक और अनिवार्य है।

सामाजिकता का एक और महत्वपूर्ण आधार है भाषा। भाषा अपने आप में एक ऐसी सामाजिक शक्ति है जिसके साथ बहुत अधिक छेड़-छाड़ संभव नहीं हुआ करता है। इधर संचार माध्यमों की प्रभुता ने लेकिन सफलतापूर्वक देशी भाषाओं के साथ छेड़-छाड़ प्रारंभ किया है। कहना न होगा कि मातृभाषा का अपना महत्व हुआ करता है। निश्चित रूप से इसे स्वीकार करना ही चाहिए। लेकिन राष्ट्रभाषाओं या राजभाषाओं का भी अपना महत्व हुआ करता है। राष्ट्रीय जीवन में इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती है, नहीं की जानी चाहिए। मातृभाषा प्रेम राष्ट्र या राजभाषा के प्रति दुराव या घृणा का आधार नहीं बन सकता है। इधर, मातृभाषा प्रेम के लिए विश्व स्तर पर नये सिरे से अभियान चलाया जा रहा है। मातृभाषा के नाम पर भावनात्मक शोषण अधिक आसान होता है। इसलिए मातृभाषा प्रेम के इस नये आग्रह के अंतर्निहित मूल अभिप्राय को धैर्य और सावधानी से समझना होगा। असल बात यह है कि बाजार अपनी स्वाभाविक धारक और शासक भाषा (Covering & Governing Language) के रूप में तो अंग्रेजी को चाहती है लेकिन लोकरंजन (Language of Entertainment) के महत्व को भी जानती है। इसलिए बाजार अपना लिखित कारोबार तो अंग्रेजी में करता है क्योंकि वह बहुत गोचर नहीं होता है लेकिन बोलचाल में अंग्रेजी मिश्रित भाषाओं को प्रश्रय देने की मुहिम को हवा देता है। वह बड़ी तेजी से हिंग्रेजी (हिंदी+अंग्रेजी) और बंग्रेजी (बांग्ला+अंग्रेजी) आदि जैसी भाषिक संरचनाओं को आकार देने के प्रयोग पर दत्तचित्त होकर काम कर रहा है। इसे भाषाओं के बीच आदान-प्रदान के नैसर्गिक प्रवाह समझना भूल है। इसके पीछे की उनकी सक्रियता और धूर्तता को समझना ही होगा। धूर्तता यह कि बांग्ला, हिंदी आदि पार्श्ववर्ती भाषाओं की नैसर्गिक निकटता किसी प्रकार बढ़ने न पाये बल्कि धीरे-धीरे दूरियाँ बढे। हिंगलिश (हिंदी+इंग्लिश) और बंगलिश (बांग्ला+इंग्लिश) का विकास तेजी से हो लेकिन किसी भी प्रकार से बांग्दी (बांग्ला+हिंदी) आदि के विकास की कोई सामाजिक आकांक्षा न बने। बल्कि, दूरियाँ इतनी बढे कि उनकी बोलियाँ और शैलियाँ भी उन से अपने स्वाभाविक, ऐतिहासिक, सामाजिक संबंधों को नकार दें। सामासिक एकता के सारे सामाजिक संबंध-सूत्र बाहरी दबाव और आंतरिक तनाव को झेल नहीं पायें और बिखर जाएँ।

इस प्रकार बाजार, धर्म, काम और भाषा की आत्मिक संश्लिष्टता से सामाजिकता और सामाजिक-नैतिकता की जो अभिकेंद्रिकता बनती है उसमें भारी विचलन पैदा कर अपनी तथाकथित नैतिकता के लिए, अर्थात् निर्बाध, निर्विध, अंध, उन्मुक्त, निर्मम और क्रूर भोग के लिए उपयुक्त जगह और मन बनाता है। इसे समझना होगा, तभी उपभोक्ता समाज के मन को ठीक-ठीक पढ़ा जा सकता है। भारत एवं इसके जैसे अन्य विकासशील राष्ट्रों एवं राज्यों में आर्थिक-संवृद्धि के सारे चरणों की अनदेखी

करते हुए बाजारवाद की अपनी माँग और न्यस्त स्वार्थ के कारण आज मनुष्य जाति की बहुत छोटी आबादी के बल पर उपभोक्तावाद का हाँका लगाया जा रहा है तो सामाजिक संतुलन पर इस हाँके से पड़नेवाले खतरों के प्रति हमें सावधान होना ही होगा।

अब, उपरोक्त विवेचन के परिप्रेक्ष्य में उपभोक्ता समाज के बुनियादी स्वरूप की समझ को स्वीकार किया जाये तो रोजगारहीन वृद्धिवाले उपभोक्ता समाज के बनते हुए मिजाज को समझा जा सकता है। इससे आर्थिक-संदर्भ, भोग, नैतिकता, धर्म, राजनीति, सामाजिकता, को विवेचित करनेवाले उपभोक्ता समाज के बौद्धिक संकाय की कार्यप्रणाली भी स्पष्ट होती है। ऐसे निर्मम, क्रूर, अनैतिक, असामाजिक, अधार्मिक, अनार्थिक और अनुत्पादक भोगवृत्तिमूलक उपभोक्ता समाज में मनुष्य और साहित्य का भविष्य कैसा और क्या होगा या हो सकता है? निश्चित यह एक विचलित कर देनेवाला सवाल है। यह हताश और निराश कर देनेवाला सवाल है। तो क्या मनुष्य और साहित्य का भविष्य संकटाच्छन्न है? साहित्य आज अपनी सार्थकता प्रमाणित करने की दृष्टि से सबसे अधिक चुनौतीपूर्ण समय से संबोधित है। साहित्य मनुष्य के प्रत्येक सुख-दुख, स्वप्न-दुःस्वप्न का साथी और साक्षी रहा है। मनुष्य जाति के आँसू भी साहित्य में संघनित होते रहे हैं और उसकी हँसी-खुशी और उसके हास-विलास भी इसमें संजोये जाते रहे हैं। साहित्य निश्चित रूप से मनुष्य जाति का अन्यतम भाव-सहचर है। इसलिए साहित्य का भविष्य चुनौतीपूर्ण भले हो लेकिन संकट की इस घड़ी में भी वह मरणासन्न नहीं है। इस चुनौती का सामना करने के लिए आज साहित्य को नये संकट के परिप्रेक्ष्य में अपने को फिर से पुनर्गठित करना होगा। अपने सामाजिक सरोकारों को फिर से टटोलना और नये सिरे से अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता के मर्म और निहितार्थ को पुनर्विेषित और पुनर्अर्जित करना होगा। समाज विच्युत होती जा रही मनुष्य जाति को सावधान करने के लिए उसे अपने संवेदनात्मक सामर्थ्य का प्रयोग करना होगा। वस्तुओं के अभाव और वस्तुओं के मलवे में फँसे अकेले पड़ते जा रहे मनुष्य से निरंतर संवाद बनाये रखना होगा। उसे इसके लिए नये रूपविधान और नयी क्षमताओं से युक्त होना होगा। संस्कृति के क्षेत्र में अधिक सचेतन सक्रियता का आरंभ करना होगा। संस्कृति के उत्तम अंश को जनता तक ले जाने का प्रभावी उपक्रम करना होगा। राष्ट्रीय जनतंत्र को मजबूत बनाने के लिए उपलब्ध नये तकनीक का इस्तेमाल करते हुए सत्ता के वास्तविक विकेंद्रीकरण और आत्मानुशासन तथा स्वशासन की भावना को सांस्कृतिक स्तर पर जनस्वीकार्य बनाये जाने के उद्यम से नये सिरे से ताल-मेल बिठाना होगा। सच है कि विरोधी शक्तियाँ अधिक प्रभावी और प्रबल प्रतीत हो रही हैं। लेकिन यह भी सच है कि उपभोक्ता समाज जिसे कहा जा रहा है वह मनुष्य जाति के बहुत ही छोटे-से खाते-पीते अंश को बाजार के पक्ष में मिलाने की संकल्पना के आधार पर बन रहा है। उपभोक्ता समाज के बाहर असली और बहुत बड़ा समाज है। नानाविधि उपाय करने पर भी बाजार

के आका इस वृहत्तर मानव समाज को अपने अंदर समा लेने में कभी भी कामयाब नहीं हो सकते हैं। इसी वृहत्तर और असली मानव समाज के प्रभावी पुनर्गठन में ही पूरी मनुष्य जाति का भविष्य अंतर्निहित है। यही साहित्य के भविष्य की भी गारंटी है। मनुष्य और साहित्य का भविष्य अलग-अलग नहीं है। मनुष्य बचेगा तो, साहित्य बचेगा। मनुष्य बचेगा, जागने और रोनेवाले दुखिया कबीर के वंशज बचेंगे, इस बात पर इस झंझावात में भी निष्कंप विश्वास होना चाहिए। सुखिया लोग तो सदैव अकेले-अकेले खाते और सोते हैं। मुश्किल यह है कि आज “सभ्य आदमी समूह में/ मिलकर नहीं गाते/ समूह में मिलकर नहीं नाचते/ समूह में मिलकर समय नहीं गँवाते/ सभ्य आदमी अकेले रहना पसंद करते हैं/ सभ्य आदमी समूहों में नहीं पाये जाते हैं” (सच पूछो तो/ सभ्यता और संस्कृति/ भगवत रावत)। सामाजिक सामूहिकता के फलस्वरूप ही मानवीय सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ है। इसलिए साहित्य को भीड़ में अकेले पड़ते जा रहे मनुष्य के साथ खड़ा होना होगा तथा इस अकेले-अकेले के मनोभाव को संवेदनात्मक उपक्रम से तोड़ना और सामाजिक सामूहिकता को फिर से हासिल करना ही होगा। इसके लिए अलोचना की सामाजिकता पर बहुत ही गहराई और विवेक से विचार करना साहित्य का सामाजिक दायित्व है।

आज संस्कृति का नेतृत्व किन के हाथ में है? जिनके हाथ में है उनके दिमाग में जनतंत्र के प्रति सच्चा सम्मान और समर्पण कितना है? पिछली शताब्दी में भारतीय मन में, और सही बात तो यह है कि पूरी दुनिया के आम जन में समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के मानवीय माहौल के स्वागत में जो अल्पना रची गई थी उसका रंग बहुत तेजी से इस शताब्दी के आरंभ में ही उदास हो गया है। मुक्तिबोध के शब्दों को याद करें, “आज संस्कृति का नेतृत्व उच्च वर्ग के हाथ में है--- जिनमें उच्च मध्यवर्ग भी शामिल है। किंतु यह आवश्यक नहीं है कि यह परिस्थिति स्थायी रहे, अनिवार्यतः। यह बदल सकती है। और, जब बदलेगी, तब इतनी तेजी से बदलेगी कि होश फ़ाख़्ता हो जायेंगे। संस्कृति का नेतृत्व करना जिस वर्ग के हाथ में होता है, वह समाज और संस्कृति के क्षेत्र में अपनी भावधारा और अपनी जीवन-दृष्टि का इतना अधिक प्रचार करता है कि उसकी एक परंपरा बन जाती है। यह परंपरा भी इतनी पुष्ट, इतनी भावोन्मेषपूर्ण और विश्व-दृष्टि-समन्वित होती है, कि समाज का प्रत्येक वर्ग आच्छन्न हो जाता है। यहाँ तक कि जब अनेक सामाजिक राजनीतिक कारणों से निम्न-जन-श्रेणियाँ उदबुद्ध होकर, सचेत और सक्रिय होकर अपने-आपको प्रस्थापित करने लगती हैं तब वे उन पुराने चले आ रहे भाव-प्रभावों, विचारधाराओं और जीवन-दृष्टियों को इस प्रकार संपादित और संशोधित कर लेती हैं, कि जिससे वे अपने अज्ञान की परिधि में ज्ञान की ज्वाला प्रदीप्त कर सकें। दूसरे शब्दों में, समाज-रचना को बदलनेवाली विचारधारा के अभाव में, वे निम्न-जन-श्रेणियाँ, अपनी सामाजिक-राजनीतिक विकासावस्था के अनुरूप,

पुरानी विचारधाराओं ही का संपादन संशोधन कर लेती हैं और इस प्रकार अपने प्रभाव का आंशिक विस्तार कर लेती हैं। किंतु अंततः, संस्कृति का नेतृत्व करनेवाले पुराने विधाताओं से हारना ही पड़ता है। मेरा मतलब कबीर जैसे निर्गुणवादी संतों की श्रेणी से और उस श्रेणी में आनेवाले लोगों से है। समाज के भीतर निम्न-जन-श्रेणियों का वह विद्रोह था, जिसने धार्मिक-सामाजिक धरातल पर स्वयं को प्रस्थापित किया। आगे चलकर, निर्गुणवाद के अनन्तर, सगुण भक्ति और पौराणिक धर्म की विजय हुई, तब संस्कृति के क्षेत्र में निम्न-जन-श्रेणियों को पीछे हटना पड़ा। यह आवश्यक नहीं कि आगे चलकर ये निम्न-जन-श्रेणियाँ चुपचाप बैठी रहें। शायद वह जमाना जल्दी ही आ रहा है जब वे स्वयं संस्कृति का नेतृत्व करेंगी, और वर्तमान नेतृत्व अधःपतित होकर धराशायी हो जायेगा। इस बात से वे डरें जो समाज के उत्पीड़क हैं, या उनके साथ हैं हम नहीं क्योंकि हम पद-दलित हैं और अविनाशाय हैं-- हम चाहे जहाँ उग आते हैं। गरीब, उत्पीड़ित, शोषित मध्यवर्ग को ध्यान में रखकर मैं यह बात कह रहा हूँ।” (मुक्तिबोध रचनावली-4) मुक्तिबोध ने यह बात गरीब, उत्पीड़ित, शोषित मध्यवर्ग को ध्यान में रखकर कही थी। किंतु आज की स्थिति क्या है? पुराने विधाताओं के नये जाल में फँसा हमारा समाज दम तोड़ने के कगार पर पहुँचता जा रहा है। विधाताओं और विधायकों, विधिवेत्ताओं में कौन है जो हमारे साथ है? ‘राम की शक्तिपूजा’ में दुख के नैश अंधकार में निराला के राम की यह वेदना कि ‘जिधर अन्याय है, उधर ही शक्ति है’; आज भी बहुत बड़ी आबादी का सच है! नागार्जुन को याद करें तो हमारे समय का प्रमुख राजनीतिक और सांस्कृतिक नेतृत्व भी कुंवर नरायण के ला-ला अशर्फीलाल की पालकी ढोने के लिए पहले के किसी भी समय के नेतृत्व से अधिक उतावला हो रहा है।

आज की सामाजिक-ऐतिहासिक परिस्थिति फिर एक बार घूम फिर कर वहीं खड़ी हो गई है जहाँ संस्कृति के क्षेत्र में निम्न-जन-श्रेणियों को पीछे हटना पड़ा। आज हमारे पास यह आस्था भी नहीं बची है कि जोर गले से कह सकें, ‘हम पद-दलित हैं और अविनाशाय हैं-- हम चाहे जहाँ उग आते हैं।’ आस्था इसलिए नहीं बची है कि कहीं-न-कहीं स्वतंत्रता और समृद्धि के विकल्प में से हमने समृद्धि के विकल्प को अपनाने का मन बना लिया है। आस्था इसलिए नहीं बची है कि गरीबी की मार झेलते-झेलते और आर्थिक पगबाधाओं को पार करते हम इतने थक चुके हैं कि यह प्राथमिक पाठ ही भूल गये कि स्वतंत्रता से समृद्धि आ सकती है किंतु समृद्धि से स्वतंत्रता नहीं आ सकती है। हम भूल गये कि स्वतंत्रता निर्विशिष्ट मनुष्य के जनतांत्रिक अधिकारों के प्रति सच्चे आदर से हासिल होती है। हम भूल गये कि स्वतंत्रता अपने-आप में बहुत बड़ी समृद्धि है। हम भूल गये कि ‘संतुष्ट सूअर से अधिक श्रेयस्कर है असंतुष्ट मनुष्य होना’। ‘पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं’ जैसे मूल सांस्कृतिक संदेश को भी हम भूल गये। इन भूले हुए पाठों को फिर से नये अर्थ-संदर्भ के साथ पढ़े जाने की जरूरत है।

सामाजिक रूप से दलित का पुराना संदर्भ अभी समाप्त हुआ नहीं है और मानव समाज का बहुत बड़ा हिस्सा नव-दलन के खतरों के सामने खड़ा है। नव-दलन के खतरों से निपटने के लिए सामाजिक दलन के पुराने पाठ के भारतीय संदर्भों को न सिर्फ समझना होगा बल्कि उससे लड़ना भी होगा। खतरा तो यह भी है कि सामाजिक दलन के पुराने पाठ का प्रयोग नये दलशाह नव-दलन के लिए हथियार के रूप में न कर लें। इस गंभीर सवाल पर विचार करना होगा। अन्यथा न तो इस वेदना को समझा जा सकेगा कि क्यों दलित चेतना स्वानुभूति और सहानुभूति का मामला उठाकर संपूर्ण हिंदी साहित्य को सवर्ण हिंदुओं का साहित्य मान रही है और न इस वेदना को ही समझा जा सकेगा कि दलित चेतना शोषणविहीन समाज के लिए किये जानेवाले संघर्ष में 'वर्ग' के साथ 'वर्ण' को भी शामिल करने के लिए आग्रहशील क्यों है? वर्तमान भारतीय राज्य के द्वारा मान्यता प्राप्त नहीं होने के बावजूद हिंदू समाज में 'वर्ण' आज भी एक जिंदा सच है। एक ऐसा सच जिसका दुष्प्रभाव अन्य समाजों तक पसरा हुआ है। एक ऐसा जिंदा सामाजिक सच जो आज भी आंतरिक गुलामी और सामाजिक हिकारत का आधार कारण बन रहा है। साबित हो चुका है कि राज्य में अपनी संवैधानिक मान्यता के अनुरूप सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को गति देने की इच्छा-शक्ति में न सिर्फ निरंतर गिरावट आई है, बल्कि कई बार वह अपनी संवैधानिक मान्यता के विपरीत कार्यशील प्रवृत्तियों का भी पोषण करती है। ऐसे में, बांछित सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को गति देने की जिम्मेवारी खुद समाज पर आती है और कई बार राज्य से टकराव के रूप में ही इसकी अभिव्यक्ति हो पाती है। ऐसे में, शोषणमुक्त समाज को हासिल करने के लिए शोषण के 'वर्ग' आधार के साथ 'वर्ण' आधार को भी स्वीकारना, समझना और संघर्ष करना सामाजिक परिवर्तन की सृजनशीलता से जुड़े किसी भी प्रयास का दायित्व है। साहित्य भी सामाजिक परिवर्तन से जुड़ा ऐसा ही एक प्रयास है, खासकर वह साहित्य जो जनवाद और प्रगतिशीलता से किसी भी स्तर पर अपने को जोड़ता है। स्वाभाविक ही है कि साहित्य सृजन और विवेचन में 'वर्ग' साथ 'वर्ण' के अस्तित्व को भी स्वीकारना एवं समझना अनिवार्य ही है। नव-दलन के खतरों और सामाजिक दलन के पुराने पाठ को न सिर्फ समझने बल्कि साहित्य इससे जोड़ने के लिए अलोचना को अपनी सामाजिकता की तलाश में इन दोनों ही पृथक प्रतीत होती वेदना के बीच की सूत्रात्मक एकता से विकसित 'नये हम' की नई दृष्टि के साथ आगे बढ़ना है। नये संदर्भ में, ये दोनों ही पृथक प्रतीत होती वेदना असल में एक ही सामाजिक सच्चाई के दो पहलू हैं, इसे समझना होगा। राष्ट्रीय-जनतंत्र के गठन के इतने वर्षों के बाद भी सवर्ण और दलित संवेदना के अंतराल में जो अंधबिंदु बना हुआ है उसे दृष्टिबिंदु में बदलना आलोचना की सामाजिकता के लिए आज बहुत जरूरी है।

आलोचना का संबंध प्रश्नाकुलता से है। नामवर सिंह ने आलोचना के दायित्वों की ओर संकेत करते हुए ध्यान दिलाया है, “आलोचना का कार्य बराबर रहा है प्रतिष्ठाओं के सामने, प्रतिष्ठितों के सामने प्रश्न चिह्न लगाना और जो उपेक्षित स्तर के हैं और भविष्य के लिए अपेक्षित हैं उन लोगों के लिए शर्म की बात नहीं है बल्कि प्रवक्ता बनना साहित्य धर्म और आलोचना के अनुशासन का पालन ही करना है। संघर्ष समाज में, जीवन में जिस तरह हक के लिए होता है उसी तरह से आलोचना में भी बराबर होता है। आलोचना संघर्ष की प्रक्रिया है आस्वाद नहीं।” (कथादेश- जून 2002) निश्चित रूप से आलोचना सामाजिक संघर्ष की प्रक्रिया भी है सिर्फ आस्वाद नहीं। जहाँ शासन ठीक नहीं वहाँ शासन का अनुसरण यानी अनु-शासन, चाहे वह काव्यानुशासन ही क्यों न हो, कैसे और कितना निरापद हो सकता है! काव्य-शास्त्र या काव्यानुशासन और आलोचना में यही तो अंतर है कि काव्य-शास्त्र काव्य-शक्ति और शब्द-शक्ति दोनों को काव्य-संरचना की आंतरिक शक्ति मानकर चलता है जब कि आलोचना काव्य-शक्ति और शब्द-शक्ति को सामाजिक-संरचना की आंतरिक-शक्ति मानकर अपना काम करती है। काव्य-शास्त्र प्रतिमान तलाशता और बनाता है आलोचना प्रतिपथ तलाशती और बनाती है। प्रतिमान अनुल्लंघ्य होते हैं और प्रतिपथ अनुसरणीय होते हैं। काव्य-शास्त्र आप्त-वचन बनाता और उसे प्रमाण मानता है। आलोचना प्रश्न करती है और किसी आप्त-वचन को अंतिम प्रमाण मानकर नहीं चलती। काव्य-शास्त्र काव्य को आस्वाद से जोड़ता है और आलोचना काव्य को सामाजिक संघर्ष की प्रक्रिया से जोड़ती है। आज अलोचना और साहित्य की प्रमुख चुनौतियों में एक चुनौती यह भी है कि आलोचना की संघर्ष प्रक्रिया को-- रचना और इसलिए जीवन प्रक्रिया के संघर्ष को भी--- कैसे आस्वाद से जोड़ा जाये। संघर्ष में हर्ष के संपुट के लिए आवश्यक है कि सकारात्मक संघर्ष की हर प्रक्रिया को आस्वाद के आशय से संपृक्त किया जाये। इसके लिए आलोचना परखे हुए को बार-बार परखती है। और यह कोई निरपेक्ष परख नहीं होती है बल्कि अपने समय और समाज की सापेक्षता एवं प्रसंगानुकूलता में ही संभव होती है। इस प्रसंगानुकूलता और सापेक्षता की तलाश में अलोचना की सामाजिकता का प्रश्न उभरता है।

ध्यान में यह रखा ही जाना चाहिए कि सामाजिक अंधविश्वास को दूर करने, प्रश्नाकुल विश्वास की प्रवृत्ति को बढ़ावा देने, जनतंत्र के शुभ-लाभ के जनसुलभ होने को सुनिश्चित करने के सामाजिक स्वप्न को साकार करने के क्रम में होनेवाले भाव-विचार-संघर्ष की सामाजिक प्रक्रिया को रचनात्मक आस्वाद की प्रक्रिया से जोड़ने में साहित्यिक एवं सांस्कृतिक उपायों की भूमिका परीक्षणीय है। परीक्षणीयता के इसी संदर्भ में आलोचना की सामाजिकता का सरोकार बसता है। जन-समुद्र की अतल गहराइयों में कुशल

गोताखोर की तरह उतरकर उसकी संघर्षशीलता, आस्था और स्वप्निल यथार्थ के रत्न बटोर कर लाने और जन के हाथों में उसे सादर समर्पित करने की प्रक्रिया का नवोन्मेष आज की साहित्यिक आलोचना की सामाजिकता का सरोकार रचता है। यह कोई आसान काम नहीं है। इस कठिन सबक को पूरा करने के लिए अनिवार्यतः ‘भावोन्मेषपूर्ण और विश्व-दृष्टि-समन्वित’ रचनाशीलता का ही सहारा लेना होगा। स्वाभाविक ही है कि नामवर सिंह जब मार्क्सवाद को राजनीतिक दर्शन के साथ-साथ एक विश्व दृष्टि भी कहते हैं और रचना के लिए इस विश्व-दृष्टि को ही अधिक महत्वपूर्ण बताते हैं तो उनके इस निष्कर्ष के मर्म को आज नये सिरे और नई अर्थवत्ता के साथ ग्रहण करने और बरतने की जरूरत है। नई अर्थवत्ता के इस ग्रहण और बरताव को अमल में लाने के लिए आलोचना में सामाजिक सरोकार के नवोन्मेष की आवश्यकता है। इस नवोन्मेष के संदर्भ में मुक्तिबोध के निष्कर्ष याद आते हैं, “साहित्य-समीक्षा के मूल बीज वास्तविक जीवन में तजुर्बे के बतौर उपलब्ध होनेवाले ज्ञान-संवेदन तथा संवेदन-ज्ञान में ही है।” मुक्तिबोध बताते हैं, “साहित्य-विवेक मूलतः जीवन-विवेक है। इसलिए जीवन से दूर अपनी आराम कुर्सी पर बैठा हुआ समीक्षक, बड़ा विद्वान ही क्यों न हो, जीवन का वैज्ञानिक विवेचन नहीं कर सकता, फिर उसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति से विश्लेषण की बात ही क्या! बगैर जीवन को जाने, बगैर जिंदगी को पहचाने, जो आलोचक केवल जीवन की गूँजों (साहित्यिक अभिव्यक्ति) का विश्लेषण करता है, उसको किसी-न-किसी हद तक यांत्रिकता का सहारा लेना ही पड़ता है।” (मुक्तिबोध रचनावली- भाग 5)

सामाजिक सरोकार से जुड़े जन-लेखन के महत्व को नये सिरे से समझना आलोचना की सामाजिकता की प्राथमिक जरूरत है। सामाजिक सरोकार की तलाश में इस यांत्रिकता से आज मुक्त होने की जरूरत है। जरूरत हर प्रकार की यांत्रिकता के खतरे को पहचानने और उस के साथ रचनात्मक संघर्ष को चलाये रखकर उस के सर्वात्मक दुष्प्रभाव से जीवन को बचाने का है। नामवर सिंह के शब्दों में “जन-लेखकों का निर्माण, निश्चय ही, जन-संघर्षों और आत्म-शिक्षा की दीर्घ प्रक्रिया है, किंतु राजनीतिक लाइनों पर की जानेवाली दिमागी कसरत से कहीं अधिक सर्जनात्मक है।” आज के लेखक को यांत्रिकता की चपेट से जीवन को बचाने के सांस्कृतिक उपक्रम के लिए इस कठोर अग्निदीक्षा के लिए तैयार होना ही होगा। आज के लेखक में निश्चित तौर पर आलोचक भी शामिल हैं। शामिल ही नहीं हैं बल्कि आलोचकों का दायित्व दुहरा है। पिछली सदी गवाह रही है कि यांत्रिकता के खतरों का जितना दुष्प्रभाव रचना पर पड़ा उस से कहीं अधिक आलोचना पर पड़ा है। यह भी कि यांत्रिकता का रचना पर पड़नेवाला प्रभाव मुख्य रूप से आलोचना के मार्फत ही पड़ा है। इसलिए, आलोचना को यांत्रिकता के खतरों के दुष्प्रभाव से न सिर्फ अपने को बचाने के लिए संघर्ष करना है बल्कि रचना भी किसी भी तरह की यांत्रिकता के खतरों की चपेट में न आये इसके लिए

भी सचेष्ट और स-तर्क रहना है। रचनात्मक और आलोचनात्मक दोनों ही स्तर पर सामाजिक सरोकार के नवोन्मेष से ही यह काम होगा।

अशोक वाजपेयी 'कुछ पूर्वग्रह' में 'आलोचना की जरूरत' पर ध्यान देते हुए जो निष्कर्ष निकालते हैं उन पर ध्यान देना चाहिए, उन्हीं के शब्दों में, "ऐन इस वक्त आलोचना-बुद्धि को एकाग्र सक्रिय रखना और उसे रचनात्मक प्रयत्न का अनिवार्य तत्त्व बनाना, संघर्ष की सार्थकता और और उसके सफल और कारगर होने की संभावना बढ़ाना है। संघर्ष के संदर्भ में ईमानदारी की ऐसी कोई भी परिभाषा अधूरी और ना काफ़ी होगी जो अलोचना-बुद्धि की अनिवार्यता को स्वीकार न करती हो।" आगे वे यह भी बताते हैं, "आज का अधिकांश लेखन सामाजिक यथार्थ से सीधे जुड़ा हुआ है और प्रायः इसका रचनात्मक अन्वेषण करता और उस पर निर्णय देता है। आलोचना भी अंततः, आज भी आदमी की हालत की पड़ताल है, भले ही ऐसा करने में वह साहित्य और कलाओं का सहारा लेती है। उसके पास भी सामाजिक यथार्थ के सीधे अनुभव और वस्तु-स्थिति की अपनी समझ है। जाहिर है इस समझ का वह समकालीन लेखन को जाँचते परखते वक्त इस्तेमाल करेगी।"

आलोचनात्मक विवेक की जड़ से ही जीवन-विवेक, कवित्त-विवेक, सामाजिक-विवेक जैसे अनेक फूल खिलते हैं। इन फूलों की नाना पंखुड़ियों के खिलने से ही जीवन की बगिया में बहार आती है। मुक्तिबोध बताते हैं, "काव्य में केवल अवचेतन या अचेतन मन ही प्रकट नहीं होता है; कवि के अनजाने, अचेतन रूप से उस कवि का चरित्र भी प्रकट होता जाता है। कवि का जो कथ्य है, वह भिन्न है। अपने चरित्र की अभिव्यक्ति कवि का कथ्य नहीं है। फिर भी काव्य में कलाकार का चरित्र प्रकट होता रहता है। दूसरे शब्दों में, कवि अपने हृदय में संचित तत्त्वों का जो चित्रण करता है, उन तत्त्वों के अतिरिक्त वह अन्य अनेक बातें सूचित कर जाता है, कह जाता है, चित्रित कर जाता है। हाँ वैसा करना उसका उद्देश्य बिल्कुल नहीं है। वह तो केवल अपना कथ्य प्रस्तुत कर रहा है। कथ्य शब्दबद्ध करना ही उसका उद्देश्य है। किंतु कथ्य चित्रित करने के साथ-साथ कवि अपने अनजाने में बहुत कुछ और कह जाता है। संक्षेप में, कवि कथ्य के माध्यम से अपने अनजाने में अपना चरित्र प्रस्तुत कर जाता है। चरित्र अंतर और बाह्य से सामंजस्य की स्थापना के, द्विविध और द्वंद्वत्मक किंतु एकीभूत प्रयत्नों की प्रक्रिया में, उस प्रक्रिया के दौरान में, वह बनता और बढ़ता है, निर्मित और विकसित होता है। सहस्रों वर्षों से चली आ रही वर्गविभाजित सभ्यता के अंतर्गत, व्यक्ति-चरित्र अपने वर्ग के तत्त्वों को आत्मसात करता है, बिल्कुल बाल्यकाल से ही। ये वर्ग तत्व हैं--- जीवन-यापन-पद्धति और आदर्श दृष्टिकोण, जीवन-मूल्य तथा भावों की वह परंपरा, जो समाज के भीतर अपने वर्ग में उपस्थित मानव-संबंधों तथा मानव-स्थिति के बारे में

होती है, तथा वर्गाभ्यांतर मानव-स्थितियों और मानव-संबंधों में कुछ फेरफार होते ही, जो (भाव-परंपरा) बदलने लगती है।” इस ‘जीवन-यापन-पद्धति’ पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

उत्कटतम रूप में देखने की इच्छा के बने रहने का ही परिणाम है, आँखों का विकास। तात्पर्य यह कि देखने की क्षमता में देखने की इच्छा का बड़ा योगदान है। स्वभावतः, देखने की जितनी बड़ी इच्छा होती है देखने की उतनी ही बड़ी क्षमता भी विकसित होती है। कहते हैं कि हिंदी कविता के सूर कवि जन्मांध थे। लेकिन यह देखने की उत्कट इच्छा ही रही होगी जिसके कारण सूरदास में देखने की वह क्षमता विकसित हुई जो क्षमता आँखवालों में भी किसी-किसी में ही पाई जाती है। आँखवालों ने कभी मन से यह नहीं माना कि सूरदास जन्मांध रहे होंगे। देखने की यह इच्छा और यह क्षमता सिर्फ शरीरी आँख तक ही सीमित नहीं होती है, इसलिए देखने के कारोबार में एक प्रकार के अशरीरी, सूक्ष्म और गुप्त आँख के अस्तित्व को भी किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया जाता है, कभी दिव्य दृष्टि के रूप में तो कभी भीतरी संज्ञा के रूप में। जो हो, कुछ-न-कुछ ऐसा अवश्य ही बचा रह जाता है जो दृष्टि-बोध से बाहर बना रहता है। वैयाकरण बताते हैं कि ‘आलोचना’ का विकास उसी ‘लुच्’ धातु से हुआ है जिस ‘लुच्’ धातु से ‘लोचन’ शब्द विकसित हुआ है। आलोचना साहित्य और समाज में निरंतर बन रहे ‘अंधबिंदु’ को ‘दृष्टि-बिंदु’ में बदलने का काम निरंतर करती रहती है। ज्ञानी लोग तो कभी-कभी यह भी साबित कर देते हैं कि ‘जो होता है, वह दीखता नहीं है और जो दीखता है वह होता नहीं है।’ होने और दीखने का यह खेल बड़ा ही निराला है, इसे सृष्टि में जारी आँख-मिचौली भी कहा जा सकता है। चतुर-सुजान प्रतिभाशील लोग इस ‘देखने और होने’ के बीच में अपनी पैठ, अपनी अर्थक्रीड़ा एवं अपने मनोरथ के लिए ‘मनोहारी गुंजाइश’ भी बना ही लेते हैं। इस ‘मनोहारी गुंजाइश’ के बारे में जो छवि उभरती है उस पर मुग्ध होने के साथ-साथ दर्पण को पीछे से परखने की बुद्धि भी आदमी के पास होती है। अपनी इसी बुद्धि के सहारे मनुष्य छाया और काया में अंतर करने में सक्षम होता है। दर्पण में अपनी छवि के आर-पार भी देखने का साहस जुटाता है। और अपने से भी एवं जगत से भी पूछता चलता है --- ‘मुखड़ा क्या देखा दरपन में !’

प्रकाश और अंधकार या आलोक और छाया के, प्रणय एवं कलह की ही नहीं, प्रणय-कलह और अंतर्कलि के लिए भी जीवन में सदैव जगह बनी रहती है। इसी जगह का अपने पक्ष में इस्तेमाल करते हुए कुछ लोग चाँदनी की मादकता के हवाले से रात के अंधकार की वकालत करते हैं। समझदार जानते हैं कि उधार की रोशनी में मादकता चाहे जितनी हो उसमें जीवन को खुशियों के रंगों से सजानेवाले इंद्रधनु रचने की क्षमता बिल्कुल नहीं होती है। जीवन में प्रकाश और अंधकार दोनों के लिए जगह बनी

रहती है क्योंकि ये दोनों ही एक ही दृष्टि-सूत्र के दो छोर हैं। सिर्फ और शुद्ध ज्ञान आदमी के लिए पर्याप्त नहीं होता है। ज्ञान भी आदमी को भरमाता है, छलता और मारता है। कबीर जिन्हें ज्ञानमार्गी खाने में रखा जाता है, वे ज्ञान की आँधी की विनाशक क्षमता के प्रति बराबर स-तर्क और सावधान रहते और करते हैं। गृहस्थ लोग जानते हैं, जीवन में देखना महत्वपूर्ण होता है तो अन-देखना भी कोई कम महत्वपूर्ण नहीं होता है। इसलिए स्वाभाविक ही है कि जीवन में अंधबिंदु का भी अस्तित्व सदैव बना रहता है। यह अंधबिंदु फैलकर चाहे जितनी बड़ी रेखा क्यों न बनाये, लेकिन वह रेखा मनुष्य के इच्छा-विस्तार और पराक्रम के लिए अनुल्लंघ्य सीमा-रेखा नहीं बन जाती है। अंधबिंदु भी अपनी जगह बना रहते हैं और दृष्टिबिंदुओं के विकास के लिए मनुष्य के प्रयास भी किसी-न-किसी प्रकार से जारी रहते हैं। इस प्रयास से ही दृष्टि का विकास और दृश्य का विस्तार होता चलता है। मनुष्य एक-से-एक जोखिम उठाता है और अंधी छलांग भी लगाता चलता है। यह मानना पड़ेगा कि मानवीय सभ्यता और संस्कृति के विकास में अंधी छलांगों का अपना महत्व रहा है। प्रयास और भूल, भूल और सुधार के माध्यम से ही यह सभ्यता वकसित होती गई है। बेहतर मानवीय समाज के नवनिर्माण के लिए आज अलोचना के क्षेत्र-विस्तार और सामाजिक सरोकार के संभावनाओं की तलाश में हमारे सामने कहीं-न-कहीं इस अंधी छलांग की तैयारी की भी गहरी चुनौती है। क्योंकि इतना गहरा और गाढ़ा अंधकार पहले नहीं था। हमारे समय का काल-बोध सिर्फ आगामी को ही संगामी नहीं बनाता है बल्कि बड़ी तत्परता से विगत को पुनर्जीवित करने का भी स्वागत करता है। विनोदकुमार शुक्ल को याद करें तो, इससे जो अँधेरा बढ़ रहा है वह साधारण अँधेरा नहीं है। पृथ्वी पहली बार अंधकार से आच्छन्न नहीं हुई है। लेकिन इस बार का अँधेरा पहले के अँधेरे से बहुत भिन्न और खतरनाक है। यह अँधेरा आठवीं सदी का है और शायद उस सदी का भी जो अभी आई नहीं है। पृथ्वी के अंधकार में, पहला पुरुष अकेला नहीं था, न पहली स्त्री। सूर्योदय का रंग, अंधकार में, दोनों के साथ होने से बन रहा था। और आज? साथी पाना ही तो असंभव होता गया है। हर हाल में भरोसा बचाने के लिए तत्पर साथी का साथ तो चाहिए ही। आज हम साथ होने को जानते हैं। साथी को नहीं जानते। ‘साथी’ को जाने बिना ‘साथ’ को बहुत देर तक बचाये रखना मुमकिन नहीं हो सकता है। साथी को जानना होगा और कहना होगा साफ-साफ--- “मेरा तो पहले से तै है/ आना है जिनको वो आयें/ या ना आयें, वहाँ मुझे/ तो हर हालत में जाना ही है।/ वहाँ पहुँचने, सभा लगाने/ से क्या होगा नहीं जानता/ लेकिन इतना तै है कि रुक/ जाऊँ अगर तो टूटेगा विश्वास/ और यही तो हर हालत में/ हमें बचाना, चलिए साथी!” (नये इलाके में - यही बचाना - अरुण कमल)। सामाजिक सत्य को कंचन के आश्रय से बाहर निकालकर, हिरण्य-गर्भ से बाहर निकाल कर सामान्य आदमी के जनतांत्रिक-स्वप्न-गर्भ में संचित करने के लिए हमें बार-बार सत्य को पुकारना होगा। उसके साथ बहुत दूर-दूर तक भटकने के लिए तैयार होना होगा। क्योंकि, “जब हम सत्य

को पुकारते हैं/ तो वह हम से परे हट जाता है/ जैसे गुहराते हुए युधिष्ठिर के सामने से/ भागे थे विदुर और भी घने जंगलों में// सत्य शायद जानना चाहता है/ कि उसके पीछे हम कितनी दूर तक भटक सकते हैं “(सब की आवाज के पर्दे में - सत्य - विष्णु खरे)।

आलोचना की सामाजिकता और सामाजिकता की आलोचना के द्विमुखी प्रश्न के समग्र उत्तर को जीवन के बहुमुखी आशय से जोड़ना ही होगा। अपनी बात करें तो, हिंदी समाज को इस कठिन चर्या के लिए तैयार होना है। इस तैयारी में हिंदी साहित्य को भी शामिल होना है। मुक्तिबोध को याद करते हुए हम कह सकते हैं कि साहित्य के सामाजिक सरोकार के प्रति आस्था रखनेवाले हर किसी को आज सब से पहले अपने निजत्व से ऊपर उठने के लिए आत्मसंघर्ष करना है। निजत्व से ऊपर उठे बिना अभिव्यक्ति के तत्त्व के लिए संघर्ष सार्थक नहीं हो सकता है। अभिव्यक्ति-तत्त्व ही हासिल न हो तो फिर अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष की कोई सार्थकता नहीं बनती है। संभवतः यहीं अभिव्यक्ति के खतरे को उठाने के संघर्ष को सही ढंग से समझा जा सकता है। सार्थक और दुर्निवार अभिव्यक्ति के लिए किये जानेवाले संघर्ष की इस त्रिकोणमिति को साधने के बाद ही हम इस शशधर-तारा हीन गहरे अंधकार में अपने सामाजिक संघर्ष का लालटेन जला सकेंगे। ध्यान में होना ही चाहिए कि यह, “लालटेन जलाना उतना आसान नहीं है/ जितना उसे समझ लिया गया है।” (सब की आवाज के पर्दे में - लालटेन जलाना - विष्णु खरे)।

इस कठिन काम को करने में ‘निंदक’ भी सहायक होते हैं, यह समझना और समझाना रचना और आलोचना की सामाजिकता पर बात करने के लिए आवश्यक है--- ‘निंदक को नियरे रखिये’।

इस सामग्री के उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।

सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान